DOI: 10.51220/hjssh.v4i1.7

Himalayan J. Soc. Sci. & Humanities, Vol 4 pp. 71-77, 2009

ह्रासोन्मुख होते पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में संस्कृत-वाङ्मय की अवधारणा

जयकृष्ण गोदियाल

संस्कृत विभाग हे0न0ब0ग0 केन्द्रीय वि0वि0 पौड़ी गढ़वाल उत्तराखण्ड- 246001

Received 19-02-2009 Accepted 28-10-2009

ABSTRACT

संस्कृत साहित्य में मनुष्य, मानव, समाज, मानवोपयोगी प्रकृति, देव दानव, धर्म दर्शन इत्यादि की ही सूक्ष्म व्याख्या नहीं है, अपितु उसमें अखिन ब्रह्माण्ड में उपलब्ध जड़ चेतन समस्त की सुविस्तृत मीमांसा भी है। प्रस्तुत शोध में सामाजिक–पारिवारिक सम्बन्धों के ह्रास होने के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है।

Keywords :- *Deteorating Social and Family Relations, Reference to Sanskrit litrature.*

'संस्कृत' विश्व की प्राचीनतम एवं श्रेष्ठ भाषा है। भारत में प्रचलित व व्यवहृत होने वाली भाषाओं की ही नहीं, अपितु, विश्व में उपलब्ध होने वाली कतिपय भाषाओं की जननी भी संस्कृत भाषा ही है। इसका इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। विश्व में सबसे अधिक सक्षम, समृद्ध, विषय–वैविध य से परिपूर्ण एवं प्रभावशाली भाषा संस्कृत ही है। इसका जो विशाल साहित्य है वह मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष की तथा उसके समाज की सांगो–पांग विवेचना सुविस्तृत रूप में करता है। संस्कृत की अमर कृत्तियों में विकीर्ण ज्ञान–विज्ञान के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि यह भाषा तथा इसका साहित्य व्यक्ति एवं समाज को ही एक सूत्र में ग्रथित नहीं करता, अपितु संस्कृत भाषा भारतवर्ष की एकता और संस्कृति का दृढ़ सूत्र है साथ ही यह भाषा सम्पूर्ण विश्व को "वसुधैव कुटुम्बकम्" का अद्वितीय संदेश देने में भी समग्र विश्व में अनुपमेय है। दुनिया के किसी भी अन्य साहित्य में इस प्रकार की विश्व–बन्धुत्व की महनीय भावना उपलब्ध नहीं होती है। अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'संस्कृत' भारतवर्ष की पहचान मात्र नहीं है अपितु यह भारत की आत्मा है। इसी कारण प्राचीन चिन्तकों ने संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति को मानव मात्र के कल्याण के लिए परमावश्यक रूप से सेव्य बताया है।[1]

संस्कृत वाङ्मय की जो विभिन्न विशेषतायें हैं उनमें एक महत्पूर्ण विशेषता यह है कि इसमें

© SHARAD

ज्ञान–वैविध्य की एवं उसके सूक्ष्म व्याख्यान की जो परंपरा यहाँ दृष्टिगोचर होती है वह अन्य भाषाओं के साहित्य में अनुपलब्ध है। संस्कृत–साहित्य में मनुष्य, मानव–समाज, मानवोपयोगी प्रकृति, देव–दानव, धर्म–दर्शन इत्यादि की ही सूक्ष्म व्याख्या नहीं है बल्कि उसमें अखिल ब्रह्माण्ड में उपलब्ध एवं अनुपलब्ध जड़–चेतन समस्त की सुविस्तृत मीसांसा भी है। इसी क्रम में आज समाज एवं उसके प्रारंभिक घटक परिवार तथा व्यक्ति के विश्रृंखलित होते सम्बन्धों के सन्दर्भ में संस्कृत साहित्य की क्या अवधारणा है? क्या सोच है? इसी महत्वपूर्ण पक्ष को व्याख्यायित करना इस शोधपत्र का उद्देश्य है।

समयानुकूल सामाजिक परिवर्तन तो शाश्वत् हैं। इन्हें कभी भी रोका नहीं जा सकता, किन्तु परिवार एवं समाज की भित्ति के रूप में जिन संस्कारों, मर्यादाओं एवं चारित्रिक आदर्शों की भारतीय समाज में सूदूर वैदिक काल में, आधारशिला स्थापित की गई है और अत्याधुनिक इस काल में भी मानवमात्र के लिए उपयोगी एवं कल्याणकारी है उनमें विकृति या ह्रास होना निःसन्देह दुःखद है। ऐसी स्थिति में हमें अपने प्राचीन साहित्य की ओर अनिवार्य रूप से उन्मुख होना पड़ेगा ताकि भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत की विश्ववन्द्य मानवीय मूल्यों की महनीय परंपरा चिरस्थायी रह सके और गर्व व स्वाभिमान के साथ हम यह कह सकें कि वास्तव में हम उस देश के निवासी हैं जहाँ की संस्कृत एवं संस्कृति अखिल विश्व की मंगलकामना करती हुये कहती है:–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखःभाग् भवेत् ।।

संस्कृत–साहित्य यद्यपि दो भागों मे विभक्त है– वैदिक एवं लौकिक किन्तु, अपने में ज्ञान–विज्ञान को समटने की इसकी अद्भुत परंपरा उभयत्र समान रूप में दिखलाई पड़ती है। वेदों, वैदिक–साहित्य एवं उपनिषदों में प्राचीन काल से ही 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्, यज्ञोऽाखिलः शास्त्रमूलम् इत्यादि वाक्यों के माध्यम से जिस अनुशासित समाज की परिकल्पना की गई है उसी की स्थापना करते हुए आदिकाव्य 'रामायण' के नायक श्रीराम धर्म व कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए प्राणों से भी प्रिय जानकी का परित्याग करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।[3] सामाजिक परिवेश के संरक्षण के लिए इससे बड़ा और क्या उदाहरण हो सकता है? समाज की स्थिति (ताना–बाना) कैसे ठीक रह सकता है–इस बिन्दु पर संस्कृत के प्रायः सभी लेखकों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। आज जिस गति से परिवार टूट रहे हैं और समाज में विकृति उत्पन्न हो रही है उस परिप्रेक्ष्य में संस्कृतज्ञों

के विचार उल्लेखनीय हैं। परिवार में और समाज में व्यक्ति कैसे व्यवहार करे ताकि वह यथावत् बना रहे–इस संदर्भ में नीति शतक की यह उक्तिः–

ये चैवं पुरूषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः।[4]

निःसन्देह ध्यातव्य है। जन–साधारण के कल्याण का क्या रास्ता है? क्या उपाय अथवा मार्ग है–इस विषय में नीतिकार का कहना है किः–

सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः।[5]

क्या इस प्रकार की सोच सामाजिक सम्बन्धों के उन्नयन के अनुकूल नहीं है? वंश (कुल) अथवा पविार की अभ्युन्नति के लिए जो कार्यविधि उपयोगी होती है, उसके अपनाने पर आचार्यों ने बल दिया है।[6] पारिवारिक जनों के विपत्ति में घिर जाने के बाद आजकल प्रायः आत्मीय जन विमुख होते देखे जाते हैं। इस प्रवृत्ति का संस्कृत के लेखकों ने घोर विरोध किया है।[7] माता–पिता, बन्धु–बान्धव एवं अन्य पारिवारिक जनों के प्रति व्यक्ति को कैसा व्यवहार व आचरण करना चाहिए–इस बात को 'नागानन्द' के नायक जीमूतवाहन के अतिरिक्त कौन जान सकता है? वह आत्म बलिदान का पुतला है। गुरूजनों की सेवा–सुश्रुषा में उसकी अधोलिखित आसक्ति क्या वर्तमान समाज को दिशा देने में समर्थ नहीं है? उसका मानना है किः–

तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
किं संवाहयतः सुखानि चरणौ तातस्य किं 'राजकम्'।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरोर्
आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तेनास्ति कश्चिद् गुणः।।[8]

त्रिभुवन के उपभोग को तुच्छ मानते हुए माता–पिता की सेवा को कल्याणकारी मानने की शिक्षा देने वाले श्रीहर्ष की उपरोक्त पंक्तियाँ वर्तमान संदर्भ में क्या प्रासंगिक नहीं है? जहाँ आये दिन पुत्रों द्वारा बहिष्कृत वृद्ध माता–पिता की कारूणिक गाथायें राष्ट्रीय समाचार चैनलों के मुख्य शीर्षक हुआ करते हैं। निःसन्देह संस्कृत के उद्धृत संदर्भ वर्तमान समाज के लिए प्रासंगिक ही नहीं अपितु ग्राह्य भी हैं ताकि विघटित होते पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्ध पुरातन भारतीय परंपरा के अनुकूल चिरस्थायी रह सकें।

संस्कृत–वाङ्मय की अमरकृति 'रामायण' की रचना ही सामाजिक करूणा की पृष्ठभूमि पर

आश्रित है। जिस आदिकाव्य का आविर्भाव ही सामाजिक व प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर अवलम्बित हो उसमें पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों का आदर्श व उपमान रूप में चित्रण होना स्वाभाविक है। भारतीय गृहस्थ जीवन का विस्तृत चित्रण वाल्मीकि रामायण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। राम एवं सीता के आदर्श चरित्र को लेकर इसकी रचना की गई है। इसमें आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श पुत्र, आदर्श पति–पत्नी, आदर्श भ्राता, आदर्श राजा, आदर्श मित्र तथा आदर्श समाज का सुन्दर चित्रण किया गया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का प्रतीक है।

परिवार तथा समाज का जो स्वरूप इसमें उपलब्ध होता है वह उत्तरवर्ती युग के लिए एक आदर्श रहा है। पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए सभी आवश्यक तत्त्वों को इस काव्य में विस्तार से निरूपित किया गया है। पूरे समाज का सम्पन्न होना, धार्मिक होना, संयमी होना एवं सर्वथा विज्ञ होना अपने आप में एक चमत्कार जैसा है। रामायण में उल्लेख मिलता है कि तत्कालीन समाज में न कोई चोर (तस्कर) था और न कोई सदाचार शून्य था। सभी धर्म, जाति एवं वर्ण के लोग सम्पन्न व संस्कार सम्पन्न थे। रामायण की अधोलिखित पंक्तियाँ यही व्यक्त करती हैं:–

तस्मिन् पुरवरे दृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।

नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।।

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः

काष्विदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः ।।[9]

तत्कालीन समाज में प्रचलित पारस्परिक जिस मैत्री का रामायण में इस प्रकार उल्लेख मिलता है:–

क्षत्रं ब्रह्मुखमं चासीद् वैष्याः क्षत्रमनुव्रताः

शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः ।[10]

उसके आज दूर–दूर तक कहीं दर्शन तक नहीं होते और यही वे कारण हैं जिससे सामाजिक व पारिवारिक सम्बन्ध दिन–प्रतिदिन ह्रासोन्मुख होते जा रहे हैं। राजा दशरथ द्वारा अपने पुत्र श्रीराम को, समाज के हित के लिए, दी गई विनय एवं समुचित न्याय की शिक्षा क्या वर्तमान समाज के हित में नही है? राजा दशरथ कहते हैं कि यद्यपि तुम विनीत हो तथापि और भी अधिक

विनय का आश्रय लेकर काम–क्रोध जनित दुर्व्यसनों का परित्याग करते हुए परोक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों वृत्तियों से समाज के हित में तत्पर रहो।[11]

रामायण की भांति ही महाकवि कालिदास ने भी अपनी प्रायः सभी कृत्तियों में अन्य सभी विषयों के प्रतिपादन के साथ–साथ पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्धों को भी पर्याप्त रूप में रेखांकित किया है। महाकवि जहाँ आश्रम व्यवस्था और वर्णव्यवस्था के पक्षधर रहे हैं, वहीं उन्होंनें समाज एवं उसके प्रारंभिक घटक परिवार के महत्व को भी भली–भाँति समझा और व्याख्यायित किया है। उनके सभी पात्र अपने दायित्त्व–बोध से सुपरिचत हैं। साथ ही वृद्ध गुरूजनों द्वारा उन्हें दिये गये उपेदश इस बात के संकेत भी हैं कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समुचित भूमिका के निर्वहन के लिए तत्पर रहना चाहिए।

कालिदास की कृतियों में एक आदर्श पारिवारिक जीवन की झलक मिलती है। उनके रघुवंश आदि काव्यों तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि नाटकों में स्पष्ट निर्देश हैं कि गृहस्थों को गुरू, माता–पिता, बन्धु, पत्नी, सेवक वर्ग, पुत्र तथा समाज से प्रेमपूर्ण व्यवहार एवं सहानुभूति रखना आवश्यक है। 'रघुवंश' में कैकेयी के प्रति राम द्वारा तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजमाता के प्रति दुष्यन्त द्वारा प्रदर्शित आदर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। कवि की रचनाओं में सर्वत्र जो सामाजिक एवं पारिवारिक शान्ति दिखलाई पड़ती है उसका मुख्य कारण यह है कि उस समय सभी लोग अपने दायित्व बोध से सुपरिचित थे और सभी अपने वंश क्रमागत कार्यों का यथोचित निर्वाह करते थे। पूज्यजनों का अनादर कालिदास को कदापि सह्य नहीं था। इसका उन्होनें प्रसंगवश अपने काव्यों में निर्देष भी किया है। परिवार में सभी सदस्यों के प्रति शिष्ट एवं सभ्य व्यवहार की कवि ने पर्याप्त शिक्षा दी है। व्यावहारिक शिक्षा के प्रकटन में महाकवि कालिदास अनुपमेय हैं। इसी वैशिष्ट्य के कारण समीक्षकों ने काव्य–संसार में नाटक को, नाटक–साहित्य में अभिज्ञानशाकुन्तलम् को, अभिज्ञानशाकुन्तलम् में, चतुर्थ अंक को तथा उसमें भी उन चार श्लोकों को अद्वितीय कहकर मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, जिनके माध्यम से नवविवाहिता (कन्या) को ससुराल में जाकर सभी पारिवारिक सदस्यों के साथ समुचित व्यवहार करने की शिक्षा दी गयी है। निःसन्देह कालिदास की पंक्तियाँ सफल गृहस्थ जीवन के लिए मन्त्र से कम नहीं है।

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धव कृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृष्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं वधूवन्धुभिः ।।[13]

इससे अधिक गहन चिन्तन क्या हो सकता है? यहां पर यह विचार ध्यातव्य है कि वस्तुतः महर्षि कण्व स्नेहवश अपनी कन्या के लिए भावी सुख और शान्ति की आकांक्षा तो रखते हैं उसके लिए उच्चपदवी की भी उनके मन में इच्छा है जो स्वाभाविक है। किन्तु, वे इसे यहाँ व्यक्त नहीं करते हैं, और शेष भाग्य पर छोड़ देते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पर प्रकारान्तर से समस्त सामाजिकों को सचेष्ट भी किया गया है कि वात्सल्य के वशीभूत होकर दूसरे पर दवाब बनाना व्यावहारिक नहीं है जैसा कि आज प्रायः देखा जाता है।

पतिगृह जाती हुई शकुन्तला को अनुशासित करते हुए महर्षि कण्व का कथनः–

सुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।।[14]

शकुन्तला के माध्यम से संसार सभी कन्याओं (नववधुओं) के लिए एक सर्वथा व्यवहरणीय मनोरम उपदेष है जिससे उनका भावी जीवन सुखमय हो सके एवं उभयपक्ष (पतिकुल व पित्रकुल) मानसिक व्यथा से बच सके जिससे अधिकांश समाज आज पीड़ित दिखलाई पड़ता है।

इसी प्रकार संस्कृत के अन्य कवियों ने भी पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों की आधारभित्ति के स्थायित्त्व के लिए अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त चिंतन किया है। ऐसे महाकवियों में भवभूति, बाणभट्ट, भारवि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आज के समाज में परिवार एवं समाज के विखण्डित होते सम्बन्धों को दृढ़ सूत्र में पिरोने के लिए संस्कृत वाङ्मय में संगृहीत विचार रत्नों की अति आवश्यकता है। अनिवार्यता है समाज को तदानुकूल जागृत करने की, अन्यथा संस्कृत–साहित्य पग–पग पर पूजा–अर्चना से लेकर ज्ञान–विज्ञान की अपनी सभी विचारधाराओं में समाज का ही चिन्तन करता हुआ दिखलाई पड़ता है, श्रेय के लिए संस्कृत की समुपासना का तात्पर्य भी यही है।

सन्दर्भः—

1. संस्कृतम संस्कृतिश्चैव श्रेयसे समुपास्यताम्
2. भारतीय संस्कृति के मूल तत्व
3. अयोध्या काण्ड 21/57–60
4. नीतिशतक, 22
5. नीतिशतक, 26
6. नीतिशतक, 32 (स जातो येन जातेन वंष याति समुन्नतिम्)
7. नीतिशतक, 36
8. नागानन्दम् 1/7
9. बालकाण्ड 6/6, 12
10. बालकाण्ड 6/19
11. गुणवत्यपि तु स्नेहात् पुत्र वक्ष्यामि ने हितम्।
    भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः।।
    कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च
    परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया त्वया।। अयो0 3/42–43
12. प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा व्यतिक्रमः।
    आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।। रघुवंश 14/16
14. अभिज्ञानशाकुन्तम्– 4/17

    अभिज्ञानशाकुन्तम्– 4/18